शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

दिसम्बर : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ८

लगन और प्राप्ति

★

सारे जगत के कोलाहल को छोड़कर, अपने चैतन्य की खोज में लग जा! चिदानन्द तत्त्व क्या है—उसका पता लगाने के लिये—उसकी लगन लगाकर छह महीने तक अभ्यास कर, तो तुझे अंतर-धाम में अवश्य चैतन्यानन्द सहित उसकी प्राप्ति होगी। अन्य सब कल्पना छोड़कर एक चैतन्य के ही चिंतन में लग जा, तो अवश्य उसकी प्राप्ति तुझे अपने में ही होगी; सच्ची लगनपूर्वक चैतन्य का पता लगाना चाहे और पता न मिले—ऐसा नहीं हो सकता..... सच्ची लगन से प्रयत्न करने पर चैतन्यतत्त्व अवश्य स्वानुभव में आता है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२११]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

(१) कविवर पंडित श्री टेकचंदजी विरचित पंचमेरु-नंदीश्वर पूजन विधान तथा वर्धमान निर्वाण पूजा २४ जिन निर्वाण तथा त्रैलोक्य, कुंडलवर आदि जिनालय पूजा संग्रह, हिन्दी भाषा में पृष्ठ संख्या १८०, मूल्य १-०, पोस्टेजादि अलग।

(२) कविवर पंडित श्री टेकचंदजी विरचित दशलक्षण व्रत विधानादि पूजा। पृष्ठ ९०, मूल्य ०.७५।

(३) छहढाला मूल मात्र। मूल्य ०-१५, पोस्टेजादि अलग।

(४) जैन बाल पोथी। मूल्य ०-२५, पोस्टेजादि अलग।

सिद्धपद की ओर.....

चैतन्य को साधनेवाले सम्यक्त्वी संत, सिद्धपद की ओर जा रहे हैं और चैतन्य की विराधना करनेवाले जीव, निगोद की ओर जा रहे हैं। अरे! निगोद के दु:खों की क्या बात कहें? सातवें रौरव नरक के दु:ख की अपेक्षा निगोद का दु:ख अनंत है। उसका वर्णन वचन से नहीं हो सकता। जिसप्रकार सिद्धों के परम सुख का वर्णन भी वचन से नहीं हो सकता, उसीप्रकार निगोद के महा दु:ख का वर्णन भी वचन द्वारा नहीं हो सकता।—ऐसे दु:खों से छूटने के लिये और सिद्ध सुख प्राप्त करने के लिये हे जीव! तू सम्यक्त्वरूपी नौका द्वारा सिद्धपद की ओर प्रयाण कर...!

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

दिसम्बर : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ८

यह है मेरे गुरुजी का उपदेश

❀ मैं ज्ञायक हूँ—ऐसा निर्णय करके अंतर में उसका पता लगा।

❀ और जबतक ज्ञायक का पता न लगे, तबतक अंतर में उसका प्रयत्न करता ही रह।

❀ चैतन्यनिधि यहाँ तेरे सामने ही पड़ी है; उपयोग को अंतर्मुख करे इतनी देर है!

❀ सब कुछ तुझमें ही विद्यमान है; कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है..... मात्र दृष्टि पलटना है। दृष्टि को अंतर्मुख कर तो अपने अचिंत्य-निधान तुझे सामने ही पड़े हुए दिखाई देंगे।

❀ अकेला ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व ही तेरा स्वद्रव्य है और उससे बाह्य अन्य सब परद्रव्य है;—ऐसा जानकर अपने स्वद्रव्य का ही अवलम्बन कर। स्वद्रव्य के अवलम्बन से मुक्ति की साधना होती है।

❀ अंतरंग में नित्य स्वरूपप्रत्यक्ष ऐसे ज्ञायक प्रभु को देख तो स्पष्ट प्रतिभास में आयेंगे कि 'मेरो धनी नहीं दूर दिशांतर मों माहीं है मुझे सूझत नीके'।

मोक्षमार्ग

[रुचि आत्मा का गुण है, इसलिये आत्मा कहीं न कहीं तो रुचि करेगा ही ? और जिस ओर रुचि करेगा उस ओर की परिणति होगी। यदि स्वभाव की महिमा जानकर स्वभाव की रुचि करे तो स्वभाव की ओर की परिणति (मोक्षमार्ग) प्रगट होगा, और यदि पर की ओर रुचि करे तो संसार की ओर की विकारी परिणति होगी। परिणतिरहित कोई जीव नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अपने स्वभाव-सामर्थ्य की महिमा को यथार्थतया जान ले तो उसकी रुचि करे, और ऐसी रुचि करे तो उस ओर परिणति जाकर स्थिर हो जाये, तथा स्वभाव का कार्य-मोक्ष प्रगट हो जाये। संक्षेप में यही मोक्ष का मार्ग समझना चाहिये।] —मोक्षअधिकार, गाथा २९७

अज्ञानी भूले पुकारें, किंतु... ?

जब ज्ञानीजन सत्य वस्तुस्वरूप को प्रगट करते हैं, तब वस्तुस्वरूप को न जाननेवाले अज्ञानीजन अपनी कल्पना करके भिन्न प्रकार से ही वस्तुस्वरूप सुनकर उसका विरोध करते हैं। अज्ञानी का यह स्वभाव है। किंतु सत्य वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है। श्री समंतभद्राचार्य कृत आप्तमीमांसा के ११०वें श्लोक की टीका में कहा है कि—

''यहाँ ऐसा जानना कि जो वस्तु है सो तो प्रत्यक्षादिप्रमाण का विषयभूत सत्-असत् आदि विरुद्ध धर्म का आधाररूप है, सो अविरुद्ध है, सो अन्यवादि सत्रूप ही है तथा असत्रूप ही है। ऐसा एकांत कहैं हैं तौ कहो, वस्तु तौ ऐसें हैं नाहीं; वस्तु ही अपना स्वरूप अनेकांतात्मक आप दिखावैं हैं तौ हम कहा करैं, वादी पुकारैं हैं विरुद्ध है रे विरुद्ध है रे! तौ पुकारो किछु निरर्थक पुकारने में साध्य है नाहीं।''

अर्थ—''यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि—जो वस्तुस्वरूप है, सो तो प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषयभूत, सत्-असत् आदि विरुद्ध धर्म का आधाररूप है, जो कि अविरुद्धसत्य है। तथापि अन्यमतवादी उसे एकांत-सत्रूप अथवा एकांत-असत्रूप भले ही कहें, किंतु वस्तु तो ऐसी नहीं है। क्योंकि जब वस्तु ही स्वयं अपने अनेकांतात्मक स्वरूप को प्रगट करती है, तो हम क्या करें ?

वादी (अज्ञानी) जन पुकारते हैं कि 'यह तो विरुद्ध है, यह तो विरुद्ध है', तो वे भले पुकारें उनकी इस निरर्थक पुकार से कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है।''

अज्ञानीजन पुकार करते हैं, इसलिये कहीं वस्तुस्वरूप तो बदल नहीं जायेगा ? वस्तुस्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही कहने पर यदि अज्ञानीजन विरोधी पुकार करें तो भले करें, किंतु जहाँ सत्यवस्तु अपने स्वरूप को ऐसा ही प्रगट करती है, तो जज्ञानी उसे अन्यथा कैसे कह सकते हैं ? इसलिये ज्ञानीजन वस्तुस्वरूप को यथावत् नि:शंकतया घोषित करते हैं।

यहाँ अस्ति-नास्ति आदि धर्मों से अनेकांतात्मक वस्तुस्वरूप की बात कही है। उसीप्रकार वस्तुस्वरूप के दूसरे पहलू निम्न प्रकार हैं:—

ज्ञानी कहते हैं कि 'आत्मा, जड़ की क्रिया नहीं कर सकता, और जड़ की क्रिया से आत्मा को कोई हानि या लाभ नहीं होता;' तब अज्ञानी पुकार उठते हैं कि इससे तो क्रिया का ही लोप हो जाता है ? इसप्रकार अज्ञानीजन भले ही चिल्लायें किंतु आत्मा का वस्तुस्वरूप ही स्वयं यह कहता है कि चैतन्य-वस्तुस्वरूप की क्रिया चैतन्य में ही है, और ज्ञान की स्थिरता ही आत्मा की वास्तविक क्रिया है। मैं जड़ से भिन्न हूँ, जड़ की क्रिया के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। इसलिये अज्ञानियों की पुकार व्यर्थ है।

जब ज्ञानीजन यह घोषित करते हैं कि 'पुण्य विकार है, पुण्य करते करते आत्मा का धर्म नहीं होता', तब अज्ञानीजन इसके विरोध में पुकार उठते हैं कि 'अरे! इससे तो पुण्य ही उड़ गया ?' इसप्रकार अज्ञानीजन भले ही चिल्लायें, किंतु जहाँ पुण्य का और धर्म का सत्य-स्वरूप ही ऐसा है वहाँ ज्ञानी क्या करे ? अज्ञानियों की यह पुकार व्यर्थ है।

जब ज्ञानीजन कहते हैं कि 'निमित्त परवस्तु की उपस्थिति मात्र है, उपादान के कार्य में वह कुछ नहीं करता। निमित्त मिले तो कार्य हो, ऐसा नहीं है; किंतु उपादान के अपने स्वभाव से ही कार्य होता है;' तब अज्ञानीजन विरोध करते हुए पुकार उठते हैं कि—'इससे तो निमित्त ही उड़ जायेगा ?' किंतु उनकी यह पुकार भी व्यर्थ है, क्योंकि उपादान और निमित्त की मर्यादा ही इतनी है। जहाँ वस्तु स्वयं ही अपने स्वरूप को घोषित कर रही है, वहाँ किसी का विरोध काम नहीं आ सकता।

सर्व जीवों को भद्रकारी जिनशासन

पौष कृष्णा ३ रविवार को सोनगढ़ में बीस विहरमान मंडल विधान की पूर्णाहुति के अवसर पर अभिषेक हुआ; उस समय पूज्य गुरुदेव उपस्थित थे। उन्होंने सीमंधर भगवान को अर्घ्य चढ़ाकर गंधोदक लिया और फिर स्वाध्याय-मंडप में पधारे। वहाँ मांगलिक रूप में श्री समंतभद्र स्वामी रचित 'स्वयंभूस्तोत्र' की अंतिम पंक्तियाँ श्री पंडित हिम्मतलालजी से पढ़वाकर अत्यंत महिमापूर्वक उनका अर्थ किया था। स्तुतिकार आचार्य महावीर प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि:—

"परमत मृदुवचन रचित भी है,
निजगुण सम्प्राप्ति रहित वह है;
तब मत नयभंग विभूषित है,
सुसमंतभद्र निर्दूषित है।" (१४३)

हे वीरनाथ जिनदेव! आपका और आप जैसे अन्य अनंत तीर्थंकरों का जो अनेकांतशासन है, वह भद्ररूप है, कल्याणकारी है; तथा आपके शासन से भिन्न जो परमत हैं, वे कानों को प्रिय लगे, ऐसी मधुर रचनावाले होने पर भी आत्महितकारी ऐसे बहुगुणों की संपत्ति से रहित हैं, सर्वथा एकांतवाद का आश्रय लेने के कारण उनके सेवन से निजगुणों की प्राप्ति नहीं होती; तथा वे यथार्थवस्तुस्वरूप के निरूपण में असमर्थ होने से अपूर्ण हैं, बाधासहित हैं और जगत के लिये अकल्याणकारी हैं। परंतु हे नाथ! अनेक नयभंगों से विभूषित आपका अनेकांतमत यथार्थ वस्तुस्थिति के निरूपण में समर्थ है; बहुगुणों की सम्पत्तियुक्त है अर्थात् उसके सेवन से बहुगुणों की प्राप्ति होती है और वह सर्वप्रकार से भद्ररूप है, निर्बाध है, विशिष्ट शोभा सम्पन्न है और जगत के लिये कल्याणरूप है।

गुरुदेव ने अत्यंत प्रमोदपूर्वक कहा : वाह, देखो तो सही... कैसी स्तुति की है!! अहो, सर्वज्ञ वीतरागदेव का अनेकांतशासन सर्व जीवों के लिये कल्याणकारी है, उसी में निजगुण की प्राप्ति है। वस्तु में एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता प्रतिक्षण बदलती है, तथापि निजगुण-अनंतगुण ज्यों के त्यों बने रहते हैं; ऐसी वस्तुस्थिति सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई मत प्रगट नहीं कर सकते। अन्य मतों की भाषा भले ही कोमल हो किंतु उसके भीतर विष है; उसमें जीव को

निजगुणों की प्राप्ति नहीं होती; वे एकांत मत मिथ्या हैं। हे नाथ! तेरा अनेकांतशासन ही 'समंतभद्ररूप' (सर्वप्रकार से कल्याणरूप) एवं निर्दोष है। हे नाथ! तेरे ऐसे निर्दोष एकांत शासन को छोड़कर दूसरे एकांत शासनों का कौन सेवन करे?—वे तो राग के पोषक हैं। प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण हैं—ऐसे गुण की प्राप्ति उन एकांत मतों में नहीं है। यदि अनंतगुण माने जायें तो अनेकांत सिद्ध हो जाता है और सर्वथा एकांत (अद्वैत अथवा सर्वथा नित्या या सर्वथा अनित्य—वे सब) मत मिथ्या सिद्ध होते हैं; इसलिये हे नाथ! आपके निर्दोष शासन के अतिरिक्त अन्य कोई मत जीव को कल्याणरूप नहीं हैं; वे परमत तो जीवों को अनंत संसार में परिभ्रमण करानेवाले हैं और आपका शासन जीवों को पार उतारनेवाला है।

जिनशासन की अति महिमापूर्वक गुरुदेव ने कहा—अहा, देखो तो सही.... समंतभद्र आचार्य ने कैसी भाववाही स्तुति की है! उनके द्वारा रची गई इस चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में अति गंभीर भाव भरे हैं। उनके संबंध में ऐसा उल्लेख है कि वे भविष्य में तीर्थंकर होंगे। ऐसे समंतभद्र स्वामी महावीतरागी संत, उनके वचन अत्यंत प्रमाणभूत हैं। जैसे भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव के वचन, जैसे ही अमृतचंद्राचार्य के वचन, वैसे ही समंतभद्रस्वामी के वचन! वे स्पष्ट कहते हैं कि—एक अरिहंतदेव का अनेकांतमय जिनशासन ही सर्व जीवों के लिये भद्ररूप है; उसके अतिरिक्त अन्य सर्व एकांतमत दूषित हैं, मिथ्या हैं तथा जीवों का अहित करनेवाले हैं—कल्याणकारी जिनशासन ही भद्ररूप एवं मंगलरूप हैं।

—इसप्रकार गुरुदेव ने अत्यंत वैराग्य एवं भक्तिभाव से उपरोक्त स्तुति के अर्थ द्वारा मांगलिक किया था, जिसे सुनकर सर्व मुमुक्षु आनन्दित हो उठे थे और जय-जयकार से वातावरण गूँज उठा था।

''जिनेश्वरदेव का मंगल आशीर्वाद प्राप्त मंगलमूर्ति गुरुदेव की जय हो....!''

जिनभावना

हे जीव! जिनभावना के बिना, भीषण नरक गति तथा तिर्यंच गति में तूने तीव्र दुःख प्राप्त किये..... इसलिये अब तो तू जिनभावना भा.... अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना कर..... कि जिससे तेरा संसार भ्रमण मिट जाये।

चैतन्य की साधना के लिये संतों की सेवा

जिसे चैतन्य को साधने का उत्साह है, वह चैतन्य के साधक धर्मात्मा को देखते ही उत्साहित एवं उल्लसित हो उठता है कि—अहा! यह धर्मात्मा चैतन्य की कैसी साधना कर रहे हैं!—इसप्रकार उसे प्रमोद आता है और उत्साह जागृत होता है कि—मैं भी इसप्रकार चैतन्य की साधना करूँ! चैतन्य की साधना में हेतुभूत ऐसे संत-गुरुओं को वह जीव सर्वप्रकार की सेवा से रिझाता है और संत-गुरु उस पर प्रसन्न होकर अनुग्रहपूर्वक आत्मप्राप्ति कराते हैं।

उस मोक्षार्थी जीव के अंतर में एक ही पुरुषार्थ का मंथन होता है कि—मैं अपने आत्मा को किसप्रकार साधूँ?—किसप्रकार अपने आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करूँ? आत्मा में सतत् एक यही धुन लगी रहने से ज्यों ही संत-गुरु ने उसे श्रद्धा-ज्ञानादिक का उपाय बतलाया कि तुरंत उसके आत्मा में वह परिणति हो जाता है। जिसप्रकार धन का अर्थी मनुष्य राजा को देखते ही प्रसन्न हो उठता है और उसे विश्वास आ जाता है कि—अब मुझे धन की प्राप्ति होगी और मेरी दरिद्रता दूर हो जायेगी; उसीप्रकार आत्मार्थी मुमुक्षु जीव आत्मप्राप्ति का उपाय दर्शानवाले संतों को देखते ही परम प्रसन्न होता है... उसका आत्मा उल्लसित हो उठता है कि—अहा! मुझे अपने आत्मा की प्राप्ति करानेवाले संतों की प्राप्ति हुई.... अब मेरे संसार दुःख दूर होंगे और मुझे मोक्षसुख प्राप्त होगा।—ऐसा उल्लास एवं विश्वास लाकर फिर संत-धर्मात्मा जिसप्रकार चैतन्य की साधना करने को कहते हैं, तद्नुसार स्वयं सर्व उद्यमपूर्वक चैतन्य की अवश्य साधना करता है।

भावना

- श्रावकों को प्रथम क्या करना चाहिये ?—कि सम्यक्त्व की भावना।
- गृहवास संबंधी जो क्षोभ-क्लेश-दु:ख हो, वह सम्यक्त्व से मिट जाता है।
- चाहे जिस प्रसंग पर अथवा उपद्रव आदि के समय भी सम्यक्त्व की भावना से शुद्धात्मा पर दृष्टि लगाते ही धर्मात्मा समस्त संसार को भूल जाता है।
- सर्वज्ञ और संत जिसकी इतनी महिमा गाते हैं, वह वस्तु तेरे अंतर में ही है, तो अरे जीव! वह वस्तु कैसी है, उसे देखने का कुतुहल करके अंतर में प्रगटरूप से देख।
- आह, चैतन्य के शांतरस में झूलते हुए संत जगत को उसका मार्ग बतला रहे हैं।
- चैतन्य के साधक धर्मात्मा संत जगत की किसी प्रतिकूलता से नहीं डिगते; क्योंकि उनकी आराधना (श्रद्धा-आदि) चैतन्य के ही आधार से प्रगट हुई है, इसलिये चैतन्य के आधार से वह बनी रहती है; संयोग के आधार से कहीं उनकी आराधना प्रगट नहीं हुई है, इसलिये किसी भी संयोग में वे आराधना से नहीं डिगते।
- धर्मात्मा संत और मुनि जगत से निरपेक्ष अपने चैतन्य की साधना में ही तत्पर हैं।
- प्रथम सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप लक्ष में लेकर बारम्बार चिंतन करके, अंतर्मुख प्रवाह में उतरने पर सम्यग्दर्शन होता है।
- निर्विकल्प आनन्द के अनुभवसहित सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ मोक्ष का द्वार खुल गया।
- अहो, जो-जो उत्तम पुरुष पूर्वकाल में सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इस समय हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे—वह सब इस सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो।
- सम्यग्दर्शन की आराधना से रहित ज्ञान या चारित्र सब पीलंपोल है, उसमें कोई सार नहीं है।

❀ स्वप्न में भी धर्मात्मा को चैतन्य की तथा आनन्द की महिमा भासित होती है। आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसे सम्यक्त्वी जगत में धन्य हैं।

❀ ज्ञानी—सम्यक्त्वी ज्ञान और राग को एकमेक नहीं करते, उन्हें पृथक् का पृथक् ही जानते हैं। ज्ञान को 'निजभाव' और राग को 'परभाव' जानते हैं।

❀ अपने ज्ञान को सर्व परभावों से पृथक् रखना (अनुभवन करना)—उसमें वीतरागी भेदज्ञान का महान पुरुषार्थ है।

❀ अहा, ज्ञानी के श्रीमुख से भेदज्ञान की कहानी जो अपूर्व उल्लास भाव से सुनता है, उसका चैतन्य भंडार खुल जाता है।

❀ दृष्टि अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को मुक्त कहा है, क्योंकि उसकी दृष्टि में बंधन रहित शुद्ध आत्मा ही है।

❀ हे जीव! भेदज्ञान के अभ्यास की ऐसी दृढ़ता कर कि तीन काल-तीन लोक में आस्रव का अंश भी चैतन्यस्वभावरूप से भासित न हो।

❀ **भेदज्ञान ही धर्मलब्धि का काल है। जहाँ स्वसन्मुखतारूप भेदज्ञान हुआ, वहाँ जीव छुटकारे के मार्ग पर पहुँच गया।**

उपासक-संस्कार

(श्रावक के कर्तव्यों का वर्णन)

वीर सं० २४८७, भाद्रपद कृष्णा १३ से भाद्रपद शुक्ला १४ तक 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के छठवें अध्याय पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन। (-इन प्रवचनों के साथ वीर सं० २४७६ हुए इसी अधिकार के प्रवचनों का सारांश भी जोड़ दिया गया है)।

[लेखाङ्क २; अङ्क २०८ से आगे]

''उपासक'' अर्थात् आत्मा की उपा-सना-सेवा करनेवाले धर्मात्मा कैसे होते हैं, अथवा वीतरागी देव-गुरु के उपासक श्रावक कैसे होते हैं—उसका इसमें वर्णन है। पहली गाथा में व्रततीर्थ के प्रवर्तक श्री आदिनाथ भगवान का तथा दानतीर्थ के प्रवर्तक श्री श्रेयांस राजा का स्मरण करके मंगलाचरण किया; दूसरी और तीसरी गाथा में रत्नत्रय ही धर्म है और वही मोक्षमार्ग है—ऐसा बतलाया है; चौथी गाथा में उस रत्नत्रयधर्म के आराधक जीवों के दो भेद बतलाये हैं—निर्ग्रंथमुनि तथा गृहस्थ श्रावक; तत्पश्चात् पाँचवीं और छठवीं गाथा में धर्मात्मा श्रावकों को भी धर्म का मूलकारण कहा है और उसी का विवेचन चल रहा है—

देशव्रतोद्योतन की २०वीं गाथा में कहा है कि—श्रावक-धर्मात्मा गुणवान मनुष्यों द्वारा संमत हैं—प्रशंसनीय हैं—आदरणीय हैं; सज्जनों को अवश्य उनका आदर-सत्कार करना चाहिये। अब २१वीं गाथा में श्री पद्मनन्दिस्वामी कहते हैं कि—इस दुःषमकाल में जो श्रावक भक्ति सहित यथार्थविधि चैत्य-चैत्यालय का निर्माण कराते हैं, वे भव्य सज्जनों द्वारा वंद्य हैं—''भव्यः स वंद्यः सताम्।'' जैनधर्म में मुनि तो कहीं मन्दिरादि का आरम्भ-समारम्भ करते नहीं हैं; जिनमन्दिर निर्माण आदि कार्य श्रावक करते हैं; धर्मात्मा श्रावक भक्तिपूर्वक वीतराग-सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा के प्रति बहुमान से विशाल जिनमन्दिरों का निर्माण कराते हैं। देखो, मूलबिद्री में ''त्रिभुवनतिलकचूड़ामणि'' नामक जिनमन्दिर कितना विशाल था? और श्रवणबेलगोला में बाहुबलि भगवान की विशालकाय प्रतिमा कितनी सौम्य सुन्दर है? ऐसे मन्दिर एवं प्रतिमाएँ तो धर्मात्मा श्रावक भक्तिपूर्वक कराते हैं। वहाँ मूलबिद्री में तो लाखों-करोड़ों रुपये की हीरा-

माणिक-मोती-नीलम आदि की बहुमूल्य प्रतिमाएँ हैं; उनका निर्माण श्रावकों ने कितने भक्ति-भावपूर्वक कराया होगा! यहाँ अकेले राग की बात नहीं है, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्दर्शन के उपरांत वीतरागदेव की भक्ति-पूजा का ऐसा भाव श्रावक को आता है, उसकी यह बात है। जिनालयों का निर्माण, मुनियों की देहस्थिति का एवं अन्य दानादि का कारण श्रावक हैं, इसलिये गृहस्थों को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक श्रावकधर्म की उपासना करने योग्य है। श्रावकधर्म का मूल भी सम्यग्दर्शन है, इसलिये उसका भान बारम्बार दृढ़रूप से कहा जाता है। सम्यग्दर्शन तो धर्म की नींव है, उसके बिना तो धर्म की बात ही नहीं हो सकती। गृहस्थदशा में रहनेवालों को प्रथम सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सहित राग की मंदता करके गृहस्थ धर्म को सुशोभित करना चाहिये। श्रावक के अंतर में सर्वज्ञ परमात्मा की, निर्ग्रंथ मुनियों की तथा उनके कहे हुए शास्त्रों की प्रतीति एवं बहुमान है, इसलिये वे भक्तिपूर्वक (मान-सम्मान के लिए अथवा पूजने के लिये नहीं, किन्तु अपने अंतर की भक्तिपूर्वक) जिनबिम्बों तथा जिनमन्दिरों का निर्माण कराते हैं; कहीं मुनिराज मिलें तो बहुमानपूर्वक भक्ति सहित दानादि देते हैं तथा भक्तिभाव से शास्त्र-प्रवचन करते हैं और बुद्धिमान भव्य जीवों को स्वाध्याय के हेतु पुस्तकें प्रदान करते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो! ऐसे ज्ञानदान द्वारा भव्य जीव अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

(देखिए, "देशव्रतोद्योतन" गाथा-१०)

शास्त्र स्वाध्याय में तथा अन्य ज्ञानी धर्मात्माओं को शास्त्र दान करने में ज्ञान वृद्धि की भावना का मंथन होता है; उसमें रागरहित ज्ञान का मंथन है, वह मोक्ष का कारण है। सम्यग्दृष्टि श्रावक को चैतन्य की भावनापूर्वक जो शास्त्र दानादि का शुभराग है, वह व्यवहार से मोक्ष का कारण है; तथा उस समय जितना रागरहित ज्ञान का मंथन हो रहा है, वह सच्चा मोक्ष का कारण है। धर्मात्मा को अंतर में राग और ज्ञान की भिन्नता के भानपूर्वक ज्ञानस्वभाव की आराधना जागृत हुई है; इसलिये उसे ज्ञान की प्रभावना का सच्चा भक्तिभाव होता है।

'नियमसार' के भक्ति अधिकार में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः।
तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम्॥१३४॥

जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन; सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की भक्ति करता है, उसके निवृत्तिभक्ति है अर्थात् वह मोक्ष का आराधक है—ऐसा भगवान जिनदेव ने कहा है।

देखो, रत्नत्रय की आराधनारूप परमभक्ति श्रावक को भी होती है। निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणस्वरूप शुद्ध रत्नत्रय परिणामों का भजन, सो भक्ति है, और निश्चय आराधना उसका अर्थ है, अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय की जितनी आराधना है, उतनी मोक्ष की परमभक्ति है। समस्त श्रावक और मुनि इसप्रकार रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। अरिहंत-सिद्ध आदि केवलज्ञानादि परम गुणों के प्रति बहुमानरूप भक्ति, सो व्यवहार भक्ति है। टीकाकार पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि—जो जीव निरंतर भवभय को हरनेवाले सम्यक्त्व की, ज्ञानी की एवं चारित्र की भवछेदक अतुल भक्ति करता है वह, श्रावक हो या श्रमण हो, निरंन्तर भक्त है, भक्त है, अर्थात् वह मोक्ष का आराधक है, आराधक है, और उसका चित्त पापसमूह से मुक्त है। सम्यग्दर्शनादि की आराधना करनेवाले ऐसे श्रावक भी धन्य हैं।

'अष्टप्राभृत' में भी आचार्यदेव कहते हैं कि—जिसने सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, वह जीव धन्य है, वह कृतकृत्य है, वह शूरवीर है और वह पंडित है। सम्यग्दर्शन हुआ, तभी से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो गया है। मुनि भी कहते हैं कि—हे श्रावक! तू धन्य है... तू प्रशंसनीय है... तू मोक्ष के पथ पर चलनेवाला है।

जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ है—ऐसे धर्मात्मा गृहस्थ-श्रावक के आचारण कैसे होते हैं, उसका यहाँ वर्णन है। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व भी धर्म के जिज्ञासु को वह आचरण यथायोग्य लागू होता है।

श्रावक को प्रथम तो भगवान् सर्वज्ञदेव की प्रतीतिपूर्वक उनके प्रति बहुमान होता है। साक्षात् भगवान के वियोग में उनकी स्थापना के लिये वह जिनमन्दिर का निर्माण कराता है। जिसप्रकार अपने गृह की शोभा का भाव आता है, उसीप्रकार उससे भी विशेष जिनमन्दिर की शोभा के भाव आते हैं। जहाँ भगवान विराजमान हैं, जो भगवान का घर है—ऐसे जिनालय की उत्कृष्ट शोभा कैसे हो, उसका भाव धर्मात्मा को आता है। जिनप्रतिमा को देखकर धर्मात्मा को ऐसा भाव उल्लसित होता है कि मानों साक्षात् भगवान ही हैं! इसप्रकार जिनप्रतिमा को जिनसारखी कहा गया है। भगवान जैसे निष्परीग्रही वीतराग हैं, वैसी ही उनकी प्रतिमा होती है, उस पर शृंगार, लेप, वस्त्राभूषण या मुकुट आदि नहीं होते। ऐसे वीतराग भगवान की प्रतिमा बनवाकर उसके पंच कल्याणकादि महापूजा-प्रभावना का उत्सव श्रावक अपनी ऋद्धि अनुसार करता है। 'शक्ति अनुसार' कहा है; इसलिये एक लाख की सम्पत्ति में से दो रुपये खर्च करे तो वह शक्ति अनुसार

नहीं कहा जाता; उत्कृष्ट चौथा भाग, मध्यम छठवाँ भाग और कम से कम दसवाँ भाग शक्ति अनुसार योग्य माना गया है। धार्मिक अवसर पर शक्ति अनुसार दानादि न करे और धर्मात्मा कहलाता हो तो वह मायाचारी है—ऐसा दान अधिकार में श्री पद्मनन्दिस्वामी ने ही कहा है।

पुनश्च, जिसप्रकार भगवान के प्रति भक्ति होती है, उसीप्रकार धर्मात्मा के प्रति प्रेम एवं वात्सल्य होता है, आदर भाव होता है। धर्मी की धर्मात्मा के प्रति प्रेम आये बिना रहता नहीं, अहो, मैं जिस मार्ग का अनुसरण करता हूँ, उसी का अनुसरण यह धर्मात्मा कर रहे हैं, इसलिये यह मेरे साधर्मी हैं—इसप्रकार साधर्मी को देखते ही अंतर से वात्सल्य उमड़ता है। 'प्रवचनसार' में तथा 'अष्टप्राभृत' में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने वह बात कहीं है, तथा 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में समंतभद्रस्वामी ने भी कहा है कि—'न धर्मो धार्मिकैः बिना'—धर्म धर्मात्मा के बिना नहीं होता; इसलिये जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे अवश्य धार्मिक जीवों के प्रति वात्सल्य एवं अनुमोदना होते हैं। जिसे धार्मिक जीवों के प्रति अनुमोदना नहीं है, उसे धर्म का प्रेम नहीं है, क्योंकि धार्मिक जीवों से पृथक् तो धर्म है नहीं।

अहा! देखो, यह निश्चय-व्यवहार की संधियुक्त जिनमार्ग! आत्मा की बातें करे और आत्मा को जाननेवाले धर्मात्मा के प्रति प्रेम न आये, तो उसे धर्म की रुचि है ही नहीं। अंतर में जिसे आत्मा के निश्चयधर्म का प्रेम हो, उसे बाह्य में ऐसे आराधक जीवों के प्रति भी प्रेम होता ही है। अंतर में निश्चयस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता, सो निश्चयधर्म है, और वहाँ भूमिकानुसार पूजाभक्ति-व्रत-स्वाध्याय आदि के शुभभाव हों, वह व्यवहार धर्म है; उन दोनों को प्रमाणज्ञान में स्वीकार करना चाहिये। अकेले व्यवहार में ही लगा रहे और निश्चय श्रद्धाज्ञान प्रगट न करे तो वह मिथ्यादृष्टि हैं; तथा निश्चय का नाम लेकर पूजा-भक्ति व्रतादि व्यवहार को सर्वथा उड़ा दे तो वह भी स्वछंदी मिथ्यादृष्टि है। निश्चय से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही धर्म होने पर भी जिस भूमिका में निश्चयव्यवहार जैसे हों, वैसा ही उन्हें बराबर जानना चाहिये। यहाँ श्रावक की भूमिका में कैसे निश्चयव्यवहार होते हैं, उनका वर्णन है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे महान दिगम्बर संत हैं, वैसे ही निर्ग्रंथ संत श्री पद्मनन्दि मुनिराज हैं। उन्होंने वन-जंगल में वास करते हुए, अंतर में सर्वज्ञ परमात्मा के साथ बातें करते-करते, सर्वज्ञपद की साधना करते-करते, स्वरूप में झूलते-झूलते, इस शास्त्र में अलौकिक छब्बीस अधिकारों की रचना की है; उनमें से इस छठवें अधिकार में श्रावक के धर्मों का वर्णन है।

श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य कार्य क्या हैं, वह सातवीं गाथा में बतलाते हैं—

देवपूजा गुरोपास्ति स्वाध्याय संयमस्तपः।
दानंश्चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिनेदिने॥७॥

भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा, निर्ग्रंथ गुरुओं की उपासना, वीतरागी शास्त्रों की स्वाध्याय, संयम, तप और दान—यह छह कार्य गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन करना चाहिये।

जितनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना है, उतना धर्म है और उतना ही मोक्षमार्ग है; ऐसे धर्म की उपासना जिन्हें प्रगट हुई हो अथवा प्रगट करना चाहते हों, उन्हें उस धर्म के उपदेशक एवं आराधक देव-गुरु-शास्त्र की उपासना का भाव भी अवश्य आता है, इसलिये उसे श्रावक का कर्तव्य कहा है।

'नियमसार' में तो निश्चयरत्नत्रय को ही नियम से कर्तव्य कहकर, उन्हीं को आवश्यककर्म कहा गया है; वहाँ राग को या व्यवहार को आवश्यककर्म नहीं कहते; उसीप्रकार समयसार में भी कहा है कि—शुद्ध आत्मा की अनुभूति करना ही आगम का विधान है, वही भगवान का आदेश है।—जो ऐसा स्वरूप समझे, उसे वैसा उपदेश देनेवाले देव-गुरु-शास्त्र के प्रति परम विनय, बहुमान एवं भक्तिभाव जागृत हुए बिना नहीं रहता; इसलिये यहाँ सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक श्रावक के कर्तव्यों को भी आवश्यक कहा गया है; श्रावक की भूमिका में वे कार्य अवश्य होते हैं। श्रावक की भूमिका में अभी राग है, तो उस राग का झुकाव किधर होगा ?—वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की ओर ही वह झुकेगा। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन की बाद ही यह कर्तव्य होते हैं और पहले नहीं होते। सम्यग्दर्शन से पूर्व की पात्रता में भी जिज्ञासु जीवों को देवपूजा, गुरुसेवा आदि कार्य प्रतिदिन होते हैं। जिसके इतनी भी राग की दिशा न बदले, धर्म के निमित्तों की ओर इतना भी भक्ति-बहुमान का भाव न आये, उसे तो राग की मन्दता भी नहीं है; तब फिर राग के अभावरूप धर्म को वह कहाँ से प्राप्त करेगा ?—उसमें तो धर्म प्राप्त करने की पात्रता भी नहीं है। श्री पद्मप्रभ मुनिराज नियमसार में कहते हैं कि अरे जीव! भवभय को भेदनेवाले इस भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ?—तो तू भवसमुद्र के मध्य स्थित मगर के मुँह में है, उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वह शुभराग वास्तव में धर्म है किन्तु संसार में प्रीतिवाला जिसप्रकार स्त्री पुत्रादिक का मुँह हमेशा रागपूर्वक देखते हैं; उसीप्रकार धर्म के प्रेमी वीतरागता को प्राप्त ऐसा देव-शास्त्र-गुरु का दर्शन नित्यभक्तिपूर्वक करते हैं, उसमें धर्म का

बहुमान पुष्ट होता है, भगवान ऐसा कहते हैं, गुरु भी ऐसा ही उपदेश देते हैं और शास्त्र भी यही कहते हैं कि—तू अपने आत्मा की ओर उन्मुख हो; हमारी ओर के राग से लाभ मानकर उसके आश्रय में नहीं रुकना। इसलिये जो राग से लाभ मानकर रुकता है, उसने देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची उपासना नहीं की है। यहाँ तो ऐसे जीव की बात है कि जिसने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधना प्रगट की है किन्तु अभी मुनिदशा प्रगट नहीं हुई है, इसलिये गृहस्थदशा में स्थित है।—ऐसे धर्मात्मा को प्रतिदिन भगवान की पूजा, गुरु की उपासना, शास्त्र-स्वाध्याय, अपनी शक्ति अनुसार संयम, तप एवं दान—यह छह कर्तव्य होते हैं।

(१) देवपूजा - श्रावक धर्मात्मा का कर्तव्य है कि संसार के अन्य कार्य करने से पूर्व प्रतिदिन प्रातःकाल अपने इष्टध्येयरूप सर्वज्ञदेव का स्मरण करके उनकी महिमा का चिंतवन करे, उनकी प्रतिमा के दर्शन-पूजन करे। भगवान की वीतराग प्रतिमा को भी भगवान के समान माना गया है।

"कहत बनारसी अलप भवथिति जाकी,
सो ही जिनप्रतिमा प्रमाणे जिनसारखी।"

जिनप्रतिमा, सो जिनभगवान ही हैं। अहो! उपशांत-रस में झूलती हुई यह जिनमुद्रा निहारते हुए ऐसा अनुभव होता है, मानो चैतन्यस्वभाव का ही संपूर्ण प्रतिबिम्ब हो!—ऐसा यथार्थ स्थापना-निक्षेप धर्मात्मा को ही होता है। और ऐसी प्रतीतिपूर्वक जो जीव जिनप्रतिमा को जिनसमान मानता है, उस जीव की भवस्थिति अल्प ही होती है; अल्पकाल में ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। जिनबिम्ब कैसे होते हैं? वीतराग होते हैं; मौनरूप में मानों वीतरागता का ही बोध देते हों! जिसप्रकार भगवान सर्वज्ञदेव अरिहंत परमात्मा में कोई दूषण नहीं है, उनके लेप, वस्त्र-शस्त्र-आभूषणादि परिग्रह नहीं है, उसीप्रकार उनकी प्रतिमा भी निर्दोष, लेप, टीका-वस्त्र, शस्त्र या आभूषणरहित होती है। जो दूषित हो, वस्त्रादि परिग्रह सहित हो, वह वास्तव में अरिहंत की प्रतिमा नहीं है। जिसप्रकार—मुख की यथावत् आकृति ही दर्पण में दिखायी देती है; उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं। ऐसा नहीं होता कि—आकृति मनुष्य की और दर्पण में बन्दर की दिखायी दे; उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, उनका प्रतिबिम्ब (प्रतिमा) भी वीतराग ही होता है; रागयुक्त प्रतिबिम्ब को वीतराग का प्रतिबिम्ब नहीं कहा जाता।

यहाँ भगवान के दर्शन-पूजन करने को कहा है। वीतराग स्वरूप भगवान को पहिचानकर

ही दर्शन-पूजन करना चाहिये; क्योंकि उनके स्वरूप की पहिचान के बिना सच्चा लाभ नहीं मिलता। श्रावक के संस्कार कैसे होते हैं—उसकी यह बात है। जैनधर्म के उपासक श्रावक के हृदय में भगवान जिनदेव विराजमान होते हैं; दूसरों को वह स्वप्न में भी नहीं मानता। जो जीव कुदेवादि को मानता हो उसके तो श्रावक के संस्कार ही नहीं हैं; जिनदेव का उपासक किसी भी सरागीदेव को नहीं मानता।

जीव का इष्ट-ध्येय क्या है?—कि सर्वज्ञता और पूर्ण आनन्दरूप परमात्मादशा प्रगट करना। तो अभी तक ऐसी परमात्मदशा जिन्होंने प्रगट की है, वे परमात्मा कैसे होते हैं—उनकी पहिचान करना चाहिये। जिसे परमात्मदशा का प्रेम जागृत हुआ है, उसे ऐसे परमात्मा के अथवा उनकी प्रतिमा के दर्शन तथा पूजा-भक्ति की उमंग आये बिना नहीं रहती। जिसे ऐसा भाव न आये और उसका निषेध करे तो समझना कि उसे परमात्मपद की प्रीति ही नहीं है।

यहाँ देवपूजा की बात कही उसमें भगवान के मन्दिर का निर्माण कराना, उसकी शोभा में वृद्धि करना, उसमें प्रतिष्ठा-महोत्सव आदि कराना—इन सबका समावेश हो जाता है। जिसप्रकार गृहस्थ को अपने रहने के लिये मकान बनवाने तथा उसकी शोभा बढ़ाने का भाव आता है (उसमें तो पापभाव है, तथापि वैसा भाव आता है); उसीप्रकार धर्मी को राग की दिशा बदलकर, जिनमन्दिर का निर्माण कराना और प्रतिष्ठा-महोत्सव आदि का भाव आता है कि—अहो! त्रिलोकीनाथ का जो घर है; तीन लोक के नाथ अरिहंत परमात्मा जिसमें विराजते हैं—ऐसा जिनमन्दिर; उसकी उत्कृष्ट शोभा में वृद्धि कैसे हो? उसके लिये मैं अपने तन-मन-धन से क्या-क्या सेवा करूँ?—**ऐसा भाव धर्मात्मा को तथा धर्म के जिज्ञासु को आये बिना नहीं रहता।**

पूर्णध्येयरूप जो सर्वज्ञपद-परमात्मपद, उसकी अचिंत्यमहिमा की क्या बात! ऐसे पूर्णध्येयरूप सर्वज्ञपरमात्मा का प्रतिदिन सर्व प्रथम स्मरण करके श्रावक उनके दर्शन-पूजन करता है। भगवान के दर्शन-पूजन में अपने परम वीतराग चैतन्यबिम्ब स्वभाव का स्मरण और भावना जागृत होती है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव 'प्रवचसार' में कहते हैं कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान अरिहंतदेव जैसा ही है—ऐसा जानकर जहाँ अंतरोन्मुख हुआ, वहाँ मोह का क्षय होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। जो जीव ऐसे अरिहंत भगवान के

दर्शन-पूजन का भी निषेध करे, वह तो तीव्र मोह में निमग्न है। श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य छह कार्यों में प्रथम कार्य जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन करना है।

विदेश से आये हुए एक सज्जन पूछते हैं कि—जिस देश में जिनमन्दिर न हों वहाँ क्या किया जाये?

उसके उत्तर में गुरुदेव ने कहा कि—जिस देश में धर्म की और सम्यग्दर्शन की हानि होने का प्रसंग हो, वह देश ही छोड़ देना चाहिये। जहाँ देव-गुरु-शास्त्र का योग न हो, जहाँ भगवान के दर्शन न मिलें, जहाँ धर्मात्मा का सत्संग प्राप्त न हो, जहाँ सच्चे शास्त्रों की स्वाध्याय न मिले—ऐसा क्षेत्र मुमुक्षुजीव को छोड़ देना चाहिये। ऐसे क्षेत्र में कदाचित् लाखों-करोड़ों की आमदनी होती हो, तथापि उसका लोभ मुमुक्षु को त्याग देना चाहिये; क्योंकि धन के लिये धर्म नहीं बेचा जाता। इसी अधिकार की २६वीं गाथा में शास्त्रकार कहेंगे कि—सम्यग्दृष्टि श्रावक को ऐसे देश का, ऐसे पुरुष का, ऐसे धन का अथवा ऐसी क्रिया का कदापि आश्रय नहीं करते, जहाँ उनका सम्यग्दर्शन मलिन होने या व्रत भंग होने की संभावना हो।

देखो, यह धर्म का प्रेम! धर्म प्रेमी जीव ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का सेवन करता है कि जहाँ अपने धर्म की पुष्टि हो। आराधना को पुष्टि दे, ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप सामग्री के सेवन का शास्त्र में उपदेश है। मुनियों को भी प्रवचनसार में कहते हैं कि हे मुनियों! अपने गुणों की रक्षा एवं वृद्धि के हेतु नित्य गुणीजनों के सत्संग में वास करना... असत्संग का सेवन नहीं करना। मुमुक्षु जीव ऐसे मनुष्यों का संग छोड़ देता है जो विपरीत पुष्टि करते हों, धर्म या धर्मात्मा की निन्दा करते हों। कुसंग में अथवा जहाँ धर्माचरण में विघ्न आता हो, ऐसे कुदेश में धर्मात्मा को नहीं रहना चाहिये। तथा जिसके उपार्जन में तीव्र अन्याय, तीव्र हिंसादि पाप होते हों—ऐसी लक्ष्मी को धर्मी जीव छोड़ देता है;—**इतनी पात्रता तो धर्म प्राप्त करने के लिये होना ही चाहिये।** धर्म के जिज्ञासु को पाप का कितना भय होता है! पाप का भय छोड़कर यों ही चाहे जैसे हिंसादि पाप कार्यों में प्रवर्ते—ऐसा पात्र जीव को नहीं होता। तीव्रपाप का त्याग तो सामान्य लौकिक पात्रता में भी होता है; तो फिर धर्म की पात्रतावाले जीव को उसका सेवन कैसे होगा?—नहीं हो सकता। अहा, जो वीतरागदेव का उपासक हुआ, अरिहंतभगवान का भक्त हुए, अनंत भव का छेदन करने के लिये तत्पर हुआ, उसमें कितनी पात्रता होती है।

यहाँ कहते हैं कि—हे श्रावक! तू प्रतिदिन भगवान जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन करके अपने

ध्येय को सद्य करना। जो श्रावक बेर के फल बराबर मन्दिर और उसमें जौ के दाने जितनी जिनप्रतिमा विराजमान कराये, उसे भी धन्य कहा है; क्योंकि वहाँ उसके भाव में वीतरागी स्वभाव के परम आदर एवं अनुमोदना का मंथन होता है। वीतरागी स्वभाव को ध्येयरूप से लक्ष में रखकर प्रतिदिन जिनेन्द्र परमात्मा के दर्शन-पूजन करना वह श्रावक का कर्तव्य है।

(३) गुरु उपासना - देवपूजा के पश्चात् श्रावकों का दूसरा कर्तव्य है गुरुओं की उपासना; गुरु की उपासना अर्थात् निर्ग्रंथ मुनिवरों की तथा धर्मात्मा संतों की सेवा, उनका सत्संग, उनका बहुमान, उनकी भक्ति, उनकी प्रशंसा, उनके पास से उपदेश का श्रवण; वह गृहस्थ श्रावकों का प्रतिदिन का कर्तव्य है; धर्म में जो बड़े हैं, ऐसे धर्मात्माओं की सेवा, सो गुरु उपासना है।

(क्रमशः)

आध्यात्मिक पद

[राग-विलावल]

जग में बड़ी अंधेरी छाई, कहत कही नहीं जाई।
मिथ्या विषय कषाय तिमिर, दृग गहै न सुहित लखाई।।जग०१॥
स्वपर प्रकाशक जिन श्रुत दीपक अंध अधिकाई।
और निकोहित पथ दरसावत, आप परे अंध खाई।।जग०२॥
जिन आयस सरधान सर्वथा क्रिया शक्ति सम गाई।
सो न ऊंच पद धारि नीच कृत करत न मूढ़ लजाई।।जग०३॥
जिनकी दृष्टि सुहित साधन पै, ते सदवृत्य धराई।
धरम आसरे 'छत्त' जीव का, कौन गुरु फरमाई।।जग०४॥

(वीर-वाणी से साभार)

धा...रा...वा...ही...ज्ञा...न

भेदज्ञानी धर्मात्मा को धारावाहीज्ञान कैसा होता है—उसका अचिंत्य महिमावंत स्वरूप संवर अधिकार में बहुत ही सरस रीति से समझाया है। उसके ऊपर के प्रवचन में से यह दोहन किया है। साथ साथ में ऐसा भेदज्ञान प्रगट करने के लिए मुमुक्षु जीवों को कैसा सतत् प्रयत्न करना चाहिये—वह भी प्रवचन में बतलाया है।

इस देह में विद्यमान चैतन्यप्रभु, बेहद ज्ञान-आनन्द की प्रभुता से भरपूर, उसका अंतर में भान करके, राग से भिन्न चैतन्य भगवान का अनुभव करना, वह अपूर्व संवर धर्म है। जहाँ ऐसा अंतर में भान किया, वहाँ ज्ञानी की धर्मरूप धारा शुरू हुई, वह धारा ऐसी अटूट है कि शुभाशुभ परिणाम के समय भी (ज्ञानधारा) छुटती नहीं। शुद्धोपयोग में न वर्तता हो अर्थात् शुभाशुभभावों के समय भी रागादि से भिन्नरूप से ही ज्ञानधारा का प्रवाह साधर्मी को चलता रहता है, उसका ज्ञान-अज्ञानरूप नहीं हुआ और जब उपयोग अंतर में लीन होवे व श्रेणी माँडे तो सातिशय शुद्धोपयोग की धारा चलती है व अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन हुआ, तब से ही ज्ञान की धारा सम्यक् प्रकार से वर्तती है, राग और विकल्प होने पर भी उनसे भिन्नरूप से ज्ञानधारा वर्तती है। ऐसी ज्ञानधारा में अशुद्धता और कर्म का अभाव है।

'मैं शुद्धज्ञान हूँ'—ऐसे ज्ञानमयभावपना से जो ज्ञान परिणमित हुआ, उसमें अब बीच में रागादि नहीं आयेंगे, राग भिन्न ज्ञेयरूप से रहेगा किन्तु ज्ञान उसमें तन्मय नहीं होगा। इसप्रकार ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही होते हैं। अज्ञानमय ऐसे रागादि वे वास्तव में ज्ञानी के कार्य नहीं। ज्ञानी का कार्य तो ज्ञानमय ही है, ज्ञानी का कार्य रागमय कैसे होगा? ज्ञानी को शुद्धात्मा के अनुभवपूर्वक जो ज्ञानधारा प्रगटी, वह धारा अब ज्ञान को अज्ञानरूप नहीं होने देती। स्वरूप में निर्विकल्प उपयोग तो गणधरदेव जैसे को भी अंतर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं रहता। किन्तु ज्ञान की सम्यक्धारा तो सविकल्पदशा में सतत् चालू रहती है; सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को ज्ञानधारा निरंतर वर्तती है।

निर्विकल्प उपयोग की श्रेणी (सातवें गुणस्थान से ऊपर की दशा) यहाँ इस काल के जीवों को नहीं, लेकिन सम्यग्ज्ञान की अप्रतिहतधारा अभी के कोई-कोई जीवों को है; ऐसा

धारावाहीज्ञान में बीच में अज्ञान आये बिना केवलज्ञान लेकर छुटका—ऐसी दशा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ की वा स्त्री की भी होती है और ऐसी ज्ञानधारा वह संवर है, उससे भूमिकानुसार बंधन रुक जाता है।

संवर किसप्रकार से होता है, जिसको संवर धर्म प्रगट हुआ है, उस आत्मा की दशा कैसी होती है ?—यह समझने की जिसको दरकार है, ऐसे जीव को आचार्यदेव समझाते हैं। भेदज्ञान की शक्ति द्वारा निजस्वरूप की महिमा में लीन होने से शुद्धात्मा की अनुभूति होती है; तथा ऐसी अनुभूति होने से आत्मा समस्त परद्रव्य व समस्त परभावों से भिन्न वर्तता है; अचलितपना से ज्ञान महिमा में रहते हुए ऐसे उस आत्मा को थोड़ा-सा भी कर्मबंधन नहीं होता व कर्म से छुटकारा होता है। इसप्रकार सर्व कर्मों के संवर का मूल भेदज्ञान ही है। प्रथम तो ज्ञान और शुभशुभभावों के बीच में अत्यंत भेदज्ञान करना चाहिये। शुभाशुभराग के एक अंश को भी ज्ञान के साथ नहीं मिलाना, ज्ञान को समस्त राग से अत्यन्त भिन्न अनुभव करना—ऐसे भेदज्ञान के बिना शुभाशुभ आस्रव कभी भी नहीं रुकेगा।

शुभाशुभभावों की उत्पत्ति का मूल कुछ ज्ञान नहीं, ज्ञान में से शुभाशुभभावों की उत्पत्ति होती नहीं। शुभाशुभभावों की उत्पत्ति तो मोह-राग-द्वेष से ही होती है, इससे मोह-राग-द्वेष ही शुभाशुभभावों की उत्पत्ति का मूल है। भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति है, वह तो ज्ञान-आनन्दमय भावों की उत्पत्ति का मूल है, उसके अवलम्बन से शुद्धज्ञानमय भावों की ही उत्पत्ति होती है, जैसे आम्र और आक दोनों के मूल ही भिन्न हैं, वैसे अमृतरूप ज्ञान और आकुलतारूप आस्रव इन दोनों के मूल ही भिन्न हैं—ऐसा मूल में से दोनों का अत्यन्त भेदज्ञान करके, जब आत्मा-आत्मा के ही अवलम्बन से स्थिर होता है, तब सहज एक ज्ञान को ही अनुभवता हुआ वह आत्मा, रागादि परभावों से अत्यन्त दूर वर्तता है—अत्यन्त भिन्न वर्तता है, यानि रागादि के अभाव में उसको शुभाशुभ आस्रव का निरोध होता है, तथा वह आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त होता है, इसप्रकार भेदज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का अवलंबन करना, वह ही संवर की रीत है। सम्यग्दर्शन हुआ तब से ऐसे संवर की धारा शुरु हो गई।

देखो, यह मिथ्यात्व का जहर उतारने के मन्त्र! अहो, यह 'समयसार' यानि वर्तमान में साक्षात् तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि का सार! इसमें तो मन्त्र भरे हैं... जो मन्त्र एक क्षण में ज्ञान और राग की एकता तोड़कर अत्यंत भिन्न कर दे। साधक की ज्ञानधारा कैसी होती है, वह अलौकिक रीति से आचार्यदेव ने बतलाया है।

राग और ज्ञान की एकताबुद्धि से जीव शुभाशुभभावों को ही करता हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा है। किन्तु जब प्रज्ञाछैनी द्वारा भेदज्ञान करके ज्ञान और राग को अत्यंत भिन्न किया, तब एक ज्ञानमयभाव को ही अपना अनुभवता हुआ धर्मी जीव, रागादि परभावों को किंचितमात्र भी अपना नहीं अनुभव करता, उनसे भिन्न ज्ञानधारारूप से ही वह परिणमता है। उस ज्ञानधारा में कर्म का प्रवेश नहीं। इस रीति से ज्ञानधारा से ही संवर होता है, जब तक अपने अनुभव में से रागादि आस्रवों को भिन्न न करे, तब तक आस्रव रुकता नहीं व संवर होता नहीं।

अपूर्व पुरुषार्थ से जिसने भेद प्रगट किया है—ऐसे ज्ञानी का ज्ञान, रागादि से भिन्न ही परिणमता है; उसका ज्ञान कभी भी राग के साथ एकमेक नहीं होता। उसकी ज्ञानधारा अप्रतिहव भाव से आगे बढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करेगी। ज्ञानी का जो भाव चिदानन्दस्वभाव के तरफ झुका, वह भाव ज्ञानमय है, उसमें राग-द्वेष-मोह नहीं है। स्वभाव तरफ के परिणमन की धारा में विभाव कैसे हो सकता है ? राग से भिन्न हुआ तब तो उपयोग अंतर में गया। अंतर में जाकर उपयोग ने राग के साथ की एकता तोड़ी वह तोड़ी, अब फिर से (बाहर उपयोग जाये तो भी) कभी वह एकता होनेवाली नहीं। जैसे बिजली पड़े व पर्वत के टुकड़े हो—वे फिर जुड़ नहीं सकते; वैसे भेदज्ञानरूपी बिजली के झबकारे से ज्ञानी को ज्ञान और राग की एकता टूटी, वह फिर से जुड़नेवाली नहीं। अहा, अंतर में भेदज्ञान द्वारा जहाँ परमात्मा की प्राप्ति हुई, वहाँ अब पामर जैसे परभावों के साथ सम्बन्ध कौन रखे ? राग से भिन्न ज्ञानधारा उल्हसी वह उल्हसी, अब परमात्मपद को प्राप्त करके छुटका।

देखो तो सही, स्वभावदृष्टि का जोर ! पंचम काल के मुनिराज ने भी क्षायिक जैसे अप्रतिहत धारावाही भेदज्ञान की आराधना बतायी है। ज्ञानी की ज्ञानधारा में बीच में आस्रव नहीं। अहा, ऐसी अंतर में वीरता से कबूलात देनी चाहिये। ज्ञानी उग्रधारा द्वारा जिस मोह का नाश करने के लिये तैयार हुआ, उसके पग ढीले नहीं होते, उसको पुरुषार्थ में संदेह नहीं पड़ता। इस वीरहाक से मोक्ष को साधने के लिये निकला, उसकी आराधना के बीच में खंड नहीं पड़ेगा, एकबार दृढ़ परिणति अंतर में झुकाकर चैतन्यस्वभाव में मिली और राग से पृथकदशा हुई, बाद उस साधकदशा में सदैव राग से पृथक् अबंध परिणमन ही चलता रहता है। अरे, ऐसी चैतन्यअनुभूति की कितनी महिमा है और ऐसा अनुभव करनेवाले धर्मात्मा की क्या स्थिति है, उसकी लोगों को खबर नहीं; इसने अपनी आत्मा में मोक्ष मण्डप लगाये हैं, उस अनुभवी के अनुभव में बाहर अंग का सार समा गया है; बारह

अंगरूप श्रुत समुद्र में स्थित चैतन्य रत्न उसने प्राप्त कर लिया है; संसार का मूल उसे छेद डाला। अनंत ज्ञान सरोवर में से जो ज्ञानधारा चली, उस स्वाश्रित चैतन्यभाव में किंचित् भी रागादि भावास्रव नहीं है; पूर्णानन्द से भरे हुए ज्ञानधाम की ओर ज्ञानधारा का जो प्रवाह बहने लगा, उसे बीच में कोई रोकनेवाला नहीं।

अरे जीव! भेदज्ञान द्वारा एक बार भी तेरे ज्ञान को राग से भिन्न अनुभव कर तो राग के साथ तुझे स्वप्न में भी ज्ञान की एकता भासने की नहीं। भेदज्ञान हुआ वहाँ भान हुआ कि मेरा ज्ञानस्वभाव राग के साथ कभी एकमेक था ही नहीं और कभी एकमेक होनेवाला भी नहीं। भिन्न.. भिन्न और भिन्न। 'प्रसिद्ध हो कि ज्ञानी की ज्ञानधारा वह मुक्तस्वरूप ही है'... सम्यग्दृष्टि मुक्त है... मिथ्यात्व वही संसार है, सम्यक्त्व हुआ वहाँ मुक्ति ही है। जीव के परिणाम का बंध और मोक्ष ऐसे दो भाव किये जाय तो सम्यक्त्व परिणाम वह मोक्षस्वरूप ही है, उसमें किंचित् भी बंधन नहीं है; और मिथ्यात्व परिणाम, वह बंधनस्वरूप ही है; मिथ्यात्व सहित का भाव किंचित् भी मोक्ष का कारण नहीं है। इसलिये कहा है कि 'भेदज्ञान वह ज्ञान है, बाकी बुरा अज्ञान।'

अरे जीव! आचार्य भगवान ज्ञान को स्पष्ट भिन्न बतलाकर कहते हैं कि, ऐसा ज्ञानमयभाव वह ही वास्तव में आत्मा है। एक बार तो ज्ञानभाव द्वारा तेरी आत्मा को राग से जुदा देख! एक बार तो ज्ञान के आश्रय से जागृत हो। भेदज्ञानरूपी वज्र द्वारा एक बार तो ज्ञान और राग के बीच की संधि तोड़ दे। भेदज्ञानरूपी वज्र से ज्ञान और राग की संधि जहाँ टूटी, वह फिर से जुड़ने की नहीं; दोनों भिन्न पड़कर ज्ञान की पूर्णता और राग का अभाव होगा ही होगा। ज्ञानी की ज्ञानधारा का प्रवाह अंतर में झुका है; वह ज्ञानधारा आगे बढ़ती-बढ़ती अब केलवज्ञान समुद्र में मिल जायेगी।

आगम से, युक्ति से तथा स्वानुभव के प्रमाण से चैतन्यतत्त्व का रागादि से अत्यन्त भिन्नपना बतलाकर आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भव्य! हे आत्मशोधक! अंतर में इस ज्ञानस्वरूपी आत्मा का अनुभव करने के लिये, दूसरा कोलाहल छोड़कर एक धारा से छः महीने तक प्रयत्न कर; अंतरंग में भेदज्ञान का तीव्र अभ्यास कर, निश्चलपने—लगनपूर्वक अंतर में अभ्यास कर। ऐसा करने से तेरे अंतर में ही देहादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व मुझे अनुभव में आयेगा; मैं चैतन्यमय हूँ। ऐसा स्वसंवेदन होगा। छः महिने के सच्चे अभ्यास के जरूर आत्मप्राप्ति होगी।

छः महिने तक आत्मा की लगनी में लगा रहे तथा उसमें भंग न पड़ने दे तो निर्मल अनुभूति (सम्यग्दर्शन) हुए बिना न रहे। एक शर्त रखी है कि 'दूसरा निकम्मा कोलाहल छोड़कर।' 'अरे,

मेरा चैतन्यतत्त्व क्या है।' ऐसा अंदर में कुतुहल करके, और इसके अलावा समस्त जगत् संबंधी चिंता, कोलाहल छोड़कर, अनुभव का अभ्यास करने से छः महिने में (अधिक से अधिक छह महिने में) अवश्य आत्मा का अनुभव होगा, अपने अंतर में ही चैतन्यतत्त्व, रागादि से भिन्न विलसता देखने में आयेगा... आनन्दसहित स्वयं को वह स्वानुभव में आयेगा।

आत्मार्थी के परिणाम में चैतन्य का ऐसा तीव्ररस है कि आत्मा के अनुभव के अभ्यास की धारा को वह तोड़ता नहीं है। जगत् की, कुटुम्ब की व शरीर की चिंता के कोलाहल को एक तरफ रखकर, चैतन्यस्वभावी आत्मा को साधने के लिये उसने ज्ञानधारा चलाई है।—ऐसा तैयार होकर आत्मा को साधने के लिए निकला, उसको आत्मा अवश्य प्राप्त होगा ही।

अरे जीव! चैतन्य को साधने के लिए उसकी महिमा का घोलन कर। बर्हिमुख की चिंता छोड़कर अंतर्मुख होने का छः महिना एक धारा से प्रयत्न कर। दूसरी समस्त चिंताओं को छोड़कर एक बार सतत्पने तेरी आत्मा के प्रयत्न में लग। उपयोग को चैतन्य चिंतन में जोड़कर छः महिना धारावाही प्रयत्न से जरूर तुझे आनन्दसहित तेरा आत्मा रागादि से अत्यन्त जुदा अनुभव में आयेगा।

अहा, देखो तो सही! आचार्यदेव ने कैसा सरस रीति से समझाया है!! आत्मा के अनुभव की कैसी प्रेरणा दी है! भाई, तेरी वस्तु तेरे अंतर में है, उसके सन्मुख प्रयत्न करने से वह प्राप्त हुए बिना नहीं रहे।

हे भाई! तू बाहर की चिंता कर तो भी उसका जो होनेवाला है, वही होनेवाला है, तथा तू उसकी चिंता न कर तो भी उसका कुछ रुक जानेवाला नहीं। इसलिये उसकी चिंता छोड़कर चैतन्य के चिंतन में तेरे उपयोग को जोड़। बाहर के अनंत काल के प्रयास से कुछ हाथ नहीं आया, एक रजकण भी तेरा नहीं हुआ, फिर भी उन्हीं में ही लगा रहता है व आकुलता के दुःखों को भोगता है—यह तो बहुत ही बड़ी मूर्खता है। बाहर के प्रयत्न का अनंत काल निष्फल हो गया, किन्तु अगर अंतर में चैतन्य की प्राप्ति का प्रयत्न करे तो अंतर्मुहूर्त में उसकी प्राप्ति हो, व सादि-अनंत काल सुख का वेदन हो। स्वसन्मुख अभ्यास द्वारा स्वरूप की प्राप्ति अवश्य होती है। पर की प्राप्ति तो नहीं होती, तथा प्राप्ति हो तो भी उसमें से सुख तो प्राप्त होता ही नहीं; अपनी वस्तु अपने पास में हैं, अगर सचेत होकर-जागृत होकर देखे तो अपना स्वरूप मौजूद है, वह अपने वेदन में आता है, तथा वह स्वसंवेदन आनन्दरूप है। भाई, आनन्द की प्राप्ति का उपाय तो यह है, उत्कृष्ट भाव से प्रयत्न करने पर अंतर्मुहूर्त में अज्ञान का परदा तोड़ डालकर, स्व-स्वरूप के अनुभव द्वारा केवलज्ञान प्रगट

होता है, तो फिर सम्यग्दर्शन तो सुगम है। किन्तु शिष्य को बहुत कठिन लगता हो तो अधिक से अधिक छः महिने का समय लगने का कहा है। निष्प्रयोजन कोलाहल छोड़कर स्वरूप के प्रयत्न में लगने से छः महिने में अवश्य उसकी प्राप्ति होती है—सभी को छः महिने लगे, ऐसा नहीं; प्राप्त करनेवालों ने अंतर्मुहूर्त में भी प्राप्त कर लिया है। अंतर्मुख सम्यक् प्रयत्न करे तो तत्काल उसकी प्राप्ति होती है। जीव में अचिंत्य शक्ति है, जब अपनी शक्ति को प्रगट करके अंतर्मुख होता है, तब सम्यग्दर्शनादि पाता है, उसमें दूसरा कोई कारण नहीं, वह अकारणीय है। अंतर में ही परमात्मपद विराज रहा है, किन्तु अपनी नजर के आलस्य से (दृष्टि के दोष से) स्वयं को अपने को नहीं देखता। आचार्यदेव और ज्ञानी संत पुनः पुनः मिठास से कहते हैं कि हे कि भव्य! दूसरी समस्त चिंताओं को छोड़कर एक चिदानन्द तत्त्व की प्राप्ति के प्रयत्न में तेरे उपयोग को जोड़... कि जिससे तुरन्त ही मुझे तेरा आत्मा अनुभव में आवे। प्रवचनसार में तो आखिरी में कहा है कि अहो जीवों! इस ज्ञानानन्दस्वरूप तत्त्व को तुम आज ही देखो... आज ही ऐसे आत्मा का अनुभव करो।

ज्ञान—आनन्दमय भेदज्ञान ज्योति सदैव विजयवंत है। वह सादिअनंत जयवंत वर्तती है। जिसने भेदज्ञान प्रगट किया, उसने आत्मा में विजय के माणिक स्तंभ रोप दिये।

अंतर में आत्मार्थीपना प्रगट हुये बिना चैतन्य का पता नहीं लगेगा। भाई, चैतन्य तेज कोई अचिंत्य है; तेरी चैतन्यसत्ता राग में ढकाई गई नहीं, राग से भिन्न ही भिन्न तेरी चैतन्य सत्ता है। अज्ञान से चैतन्य का व राग का एकपना भासता था किन्तु भेदज्ञान के अभ्यास से दोनों की अत्यंत भिन्नता अनुभव में आती है। ज्ञान और राग के तीव्र अभ्यास से भेदज्ञान होवे, तब जीव को अतीन्द्रिय आनन्द सहित ऐसा अनुभव होता है कि यह ज्ञान है, वह ही मैं हूँ, तथा जो रागादि है, वह जड़ तरफ का भाव है, तेरे चैतन्यभाव के साथ उसको किंचित्मात्र भी आधार आधेयपना नहीं। चैतन्यभाव तो शांत-अनाकुल है तथा राग तो आकुलता-क्लेशरूप है—ऐसा भेदज्ञान वह संवर का उत्कृष्ट उपाय है। संवर अधिकार की शुरुआत में उसको अभिनन्दन देकर—उनकी प्रशंसा करके आचार्यदेव ने भेदज्ञान की महिमा की है और कहा है कि अहो, ऐसा भेदज्ञान अच्छिन्न धारा से निरंतर भानेयोग्य है। भेदज्ञानी धर्मात्मा अपने ज्ञान को राग से भिन्न ही अनुभवता है, उसको अणुमात्र भी राग स्वभावपने से अनुभवता नहीं। ऐसा भेदज्ञान होते निजभाव को प्राप्त करके आत्मा परम आनन्दित होता है, कभी नहीं हुआ ऐसा राग से भिन्न ज्ञान का अपूर्व वेदन हुआ वह आनन्दरूप है। आनन्द में झूलते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि हे सत्पुरुषों! ऐसा भेदज्ञान करके तुम

आनन्दित होओ... राग से अत्यंत भिन्न चैतन्य के अनुभव से आनन्दित होओ।

जीव ने यहाँ भेदज्ञान किया तो वहाँ उसे संत कहने में आया है। हे संतों! ऐसे भेदज्ञान द्वारा अब तुम आनन्दित होओ, प्रसन्न होओ। चैतन्य के अनुभव में संतों को (अविरत सम्यग्दृष्टि भी संत हैं उसको भी) अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ है। ऐसा भेदज्ञान व ऐसी अनुभूति वह अपूर्व मंगल है। जिनको ऐसी दशा प्रगटी है, वे संत भी मंगलरूप हैं, तथा अन्य जीवों को भी वे मंगल के कारण है।

भेदज्ञानी नि:शंक जानता है कि मैं ज्ञान ही हूँ। चाहे जैसे प्रचण्ड कर्मोदय का घेरा आवे तो भी मैं मेरे ज्ञानमयपना को कभी छोड़ता नहीं, मेरा ज्ञानभाव कभी राग के साथ तन्मय नहीं होता, ज्ञान कभी अज्ञानरूप नहीं होता। शत्रुंजय पर्वत पर पांडव जैसे धर्मात्मा जब ध्यान में थे, तब दुर्योधन का भांजा बैरबुद्धि से उनको धगधगाते, अंगारा झरते ऐसे लोह के आभूषण पहिनाता है, शरीर जलने लगता है—ऐसे समय में भी पाँचों पांडवों को अंतर में भान है कि हम तो ज्ञान हैं, शरीर जले तो भी हमारा ज्ञान ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता—ऐसे भान के उपरांत चैतन्य के ध्यान में लीनता की श्रेणी द्वारा तीन पांडव तो वहीं घातिकर्मों को भस्म करके, केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। बाहर की अग्नि से नोकर्म—शरीर जलता है, उसीसमय अंतर में शुक्लध्यानरूपी अग्नि से कर्मों की राख होती है। चाहे जैसे उपसर्ग में वा परिषह में ज्ञानी को (गृहस्थी सम्यग्दृष्टि को भी) अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति छूटती नहीं। हजारों कारण एकत्रित होने पर भी ज्ञानी को ज्ञानस्वभाव से छुड़ाने में समर्थ नहीं हैं। जैसे चाहे वैसी अग्नि में तप्त होने पर भी सोना, वह सोना ही रहता है, वह अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता, वैसे ज्ञानी चाहे जैसी प्रतिकूलता तथा अनुकूलता के घेरे में भी अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं छोड़ता, वह ज्ञानमय ही रहता है। हजारों कारण, कि दुनिया के अनंत कारण एकत्रित हों, अनंत प्रतिकूलता आवे, बिजली पड़े, कि वज्र पड़े फिर भी ज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव में कभी संदेह नहीं पड़ता 'मेरा ज्ञान राग के साथ मिल गया'—ऐसा संदेह उसको होता नहीं, वह ज्ञानमयस्वभावपना से ही परिणमता है; भेदज्ञान ज्योति जगी, वह अब ज्ञान को व राग को एक नहीं होने देती; ज्ञानी को ज्ञानमय परिणमन से छुड़ाने में कोई समर्थ नहीं।

ब्राह्मी, सीताजी, राजुलमती, चन्दना, अंजना 'वगैरे' अनेक धर्मात्मा सतियों पर चाहे जैसे प्रसंग आने पर भी वे अपने ज्ञानस्वभाव में नि:शंकता से ज्ञानरूप से ही वर्तती थीं; अचिंत्य ज्ञानधारा का प्रवाह उनके बहता था। ज्ञानी सम्यक्त्वी को प्रतिकूलता के ढेर आवे फिर भी उसका ज्ञान, राग से भिन्न

अपने ज्ञानस्वभाव में ही एकतारूप से वर्तता है, समय-समय में उसकी शुद्धता की वृद्धि होती जाती है; उसका नाम परिषह व उपसर्ग सहन किया, ऐसा कहने में आता है, तथा उसको निर्जरा होती है।

कोई कहे कि कितना सहन करना ?—तो... कहते हैं कि अरे भाई! ज्ञानस्वभाव में समस्त जगत् से भिन्नरूप से टिककर रहने की ताकत है, ज्ञान उदार है, धीर है, बहुत प्रतिकूल संयोग एकत्रित हों उससे ज्ञान को बिगाड़ दे, कि ज्ञान को अज्ञानरूप कर दे—यह बात अशक्य है। ज्ञानी स्वभाव में परिणमा व ज्ञानधारा निकली, उस ज्ञान की अच्छिन्न धारा को तोड़ने की किसी की ताकत नहीं। ज्ञानधारा की सहनशीलता की कोई हद या मर्यादा नहीं; 'इतनी प्रतिकूलता तो तब मेरा ज्ञान टिक सकेगा। किन्तु इससे अधिक प्रतिकूलता में मेरा ज्ञान नहीं टिकेगा'—ऐसा ज्ञानी को कभी नहीं होता। ज्ञान की ताकत अमर्यादित है, उसकी सहनशीलता भी असीम है, इससे ज्ञान धीर है, उदार है।

ऐसी ज्ञानदशा प्रगट करने के लिए अंतर में बहुत पात्रता व तीव्र प्रयत्न चाहिये। अहा, कितनी तैयारी! कितनी, कितना लालायित, कितनी जागृति! भेदज्ञान से जगा वहाँ बंधभाव भागा, व ज्ञान रागादि भावों से भिन्न होकर स्वभाव के साथ अभेद परिणमने लगा; उस ज्ञानी की धारा को तोड़ने की किसी की ताकत नहीं। अरे, नरक में तो कितनी प्रतिकूलता है फिर भी वहाँ भी श्रेणिक जैसे असंख्यात धर्मात्मा जीव हैं, वे सब ज्ञानपना से ही रहते हैं, राग से भिन्नरूप से ही उनका ज्ञान परिणमन करता रहता है। यह अंतर के परिणमन की वस्तु है, यह कुछ शब्दों की धोकमपट्टी की वस्तु नहीं। ज्ञानी को भेदज्ञान कुछ धोकना नहीं पड़ता, किन्तु उनकी सहजज्ञानमय परिणति ही राग से भिन्न ज्ञानभाव से परिणम गई है, भेदज्ञान के बल से ऐसी परिणति उनको वर्तती ही रहती है। अहो, चाहे जैसे प्रसंग में ज्ञानी का ज्ञान अपने आनन्दस्वभाव से रहता हुआ व रागादि से जुदा ही वर्तता हुआ ही अपना कार्य करता है। उन्हें ऐसे घंटे नहीं गिनना पड़ता कि 'अरे, यह प्रतिकूलता कब टलेगी।' प्रतिकूलता के समय ही उसका ज्ञान तो ज्ञानभावना से ही वर्तता है, वह किंचितमात्र भी अज्ञानरूप, कि परभावरूप नहीं होता। ऐसी अपूर्व दशा का नाम भेदज्ञान है, वह ही संवर निर्जरा है, वह ही मोक्ष का पंथ है, वह ही धर्म है, तथा वह ही मंगलरूप महिमावंत है। ऐसे भेदज्ञान का सतत् अभ्यास करने जैसा है, ऐसा भेदज्ञान अतिशय भाने योग्य है।

सुवर्णपुरी समाचार

परम उपकारी पूज्य गुरुदेव सुखशांति से विराजमान हैं। प्रवचन में सबेरे मोक्षमार्गप्रकाशक, दोपहर में श्री समयसारजी शास्त्र गाथा १५ वीं है, अमावस के दिन सबेरे स्वाध्याय में छहढाला लिया गया था।

पूज्य स्वामीजी का विहार स्थगित है।

अष्टाह्निका में श्री नंदीश्वर पूजा विधान तथा श्री रत्नत्रय मंडल विधान पूजन उत्साह से शुरु करके पूर्णता कार्तिक सुदी १५ के दिन श्री जिनेन्द्र भगवान के कलशाभिषेक उत्सव सहित हुई।

''भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव का महा उपकार है''

(२०१७ के पौष कृष्णा अष्टमी के प्रवचन से)

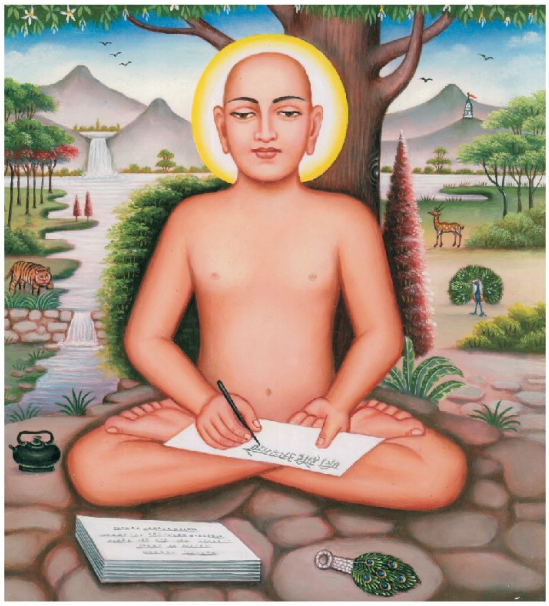

आ क्षेत्रना चरम जिनतणा सुपुत्र, विदेहना प्रथम जिनतणा सुभक्त,
भवमां भुलेल भवि जीवतणा सुमित्र, वंदुं तने फरी-फरी मुनि कुंदकुंद!

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; उस ज्ञानस्वभाव की प्राप्ति का नाम मुक्ति है; इसलिये मोक्षार्थी जीव को ज्ञानस्वभाव की भावना भाना चाहिये। देखो, यह मोक्ष की भावना! ज्ञानस्वभाव की भावना कहो, या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना कहो, वही मोक्ष का उपाय है।

आज (पौष कृष्णा अष्टमी) भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव के आचार्यपद-आरोहण का दिन है। आचार्य भगवान महा पवित्र थे, उनका हम पर महान उपकार है। उन्हें सीमंधर परमात्मा के साक्षात् दर्शन का महायोग प्राप्त हुआ था। इस भरतक्षेद्ध के जीव को विदेहक्षेद्ध में विराजमान तीर्थंकर परमात्मा के साक्षात् दर्शन हों—और वह भी आहारकलब्धि के बिना—यह उनकी महा पात्रता है। भगवान के समवसरण में, भगवान की दिव्यध्वनि में जिनके लिये 'धर्मवृद्धि' का आशीर्वाद निकला, उन कुंदकुंद प्रभु की पवित्रता का तो कहना ही क्या!! महावीर भगवान और गणधर भगवान के पश्चात् मंगल के रूप में तीसरा नाम उन्हीं का आता है। वे 'परमेष्ठी' थे। उनकी अंतरदशा अलौकिक थी, और उन्होंने समयसार आदि शास्त्र में आत्मतत्त्व के अलौकिक रहस्य भरे हैं। वहाँ कहते हैं कि हे मोक्षार्थी! तू मोक्ष के लिये ज्ञानस्वभाव की भावना भा.... उसमें अंतर्मुख होकर उसे जान।

हे जिननाथ! सद्ज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके भवसागर से पार होकर तू शीघ्रता से शाश्वतपुरी में पहुँच गया; अब मैं जिननाथ के उस मार्ग से (-जिस मार्ग से जिननाथ गये उसी मार्ग से) उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ; क्योंकि इस लोक में उत्तम पुरुषों को उस मार्ग के अतिरिक्त अन्य क्या शरणभूत है?

[—श्री पद्मप्रभ मुनिराज]

प्रवचन भक्ति

सर्वांगी **सन्मति** श्रुत धारा, गुरु गोतम ने मुखधारी।
थी करुणा हों भाव मरण बिन, तृषित तप्त भवि संसारी
हृदय शुद्ध मुनि कुंदकुंद ने वह संजीवन दया विचार

घट '**प्रवचन**', **पंचास्ति, समय** में ली लख शोषित अमृतधार
कुंद रचित पद सार्थक कर मुनि **अमृत** ने अमृत सींचा
ग्रंथराज त्रय तुमने अद्‌भुत मृदुरस **ब्रह्म-भाव** खींचा

वीर वाक्य यह अहो नितारें साम्य सुधारस
भर हृदयांजुलि पिवें मुमुक्षु वमें विषय विष

गहरी-मूर्छा प्रबल-मोह दुस्तर-मल उतरे
तज विभाव हो स्वमुख परणती ले निज लहरे

यह हैं निश्चय ग्रंथ भंग संयोगी भेदे
अरु हैं प्रज्ञा-शस्त्र उदय-मति संधी छेदे

साधक साथी जगत सूर्य **संदेश-वीर** का
क्लांत जगत विश्राम स्थान सतपथ सुधीर का

सुनें, समझलें, रुचे, जगत रुचि से अलसावे।
पड़े बंधरस शिथिल हृदय ज्ञानी का पावे

कुंदन-पत्र बना लिखे, अक्षर रत्न तथापि
कुंद सूत्र के मूल्य का अंकन हो न कदापि

श्री युगलकिशोर, साहित्यरत्न, एम.ए. (कोटा, राज०)

सम्यग्दर्शन

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञानदशा। आत्मा ज्ञानस्वभाव वस्तु है, उसकी पहिचान करके ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से पूर्ण ज्ञान का विकास प्रगट हो जाये, उसका नाम केवलज्ञान है। वह ज्ञान सर्व पदार्थों को और उनकी समस्त पर्यायों को एकसाथ प्रत्यक्ष जानता है। जिसका स्वभाव ही ज्ञान है, वह किसे नहीं जानेगा? अपूर्ण जाने या रुक-रुककर क्रमशः जाने, अथवा तो परोक्ष जाने—ऐसा ज्ञान का स्वरूप नहीं होता। स्व-पर समस्त पदार्थों को एक समय में प्रत्यक्ष, बिना किसी का अवलम्बन लिये जानने का ज्ञानस्वभाव का सामर्थ्य है। केवलज्ञान होने पर वह सामर्थ्य पूर्णतः प्रगट हो जाता है और उसमें तीनकाल-तीन लोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय एकसाथ स्पष्ट होते हैं। ऐसा केवलज्ञानस्वभाव प्रत्येक चैतन्य में प्रति समय शक्तिरूप से विद्यमान है; उसका विश्वास करके उसमें अंतर्मुख होने से वह शक्ति व्यक्त-कार्यरूप होती है। केवलज्ञान भूतकाल की अनंत पर्यायों को और भविष्य की अनंत पर्यायों का भी वर्तमान पर्याय जैसा स्पष्टरूप से जानता है। बहुत पहले की—भूतकाल की पर्यायें अस्पष्टरूप से ज्ञात हों और निकट की पर्यायें स्पष्टरूप से ज्ञात हों—ऐसा भेद उसमें नहीं है। वर्तमान पर्याय को वर्तमानरूप से जानता है और भूतकाल में जो पर्यायें हो गई हैं, उन्हें उसीप्रकार जानता है, तथा भविष्यकाल में जिस समय जो पर्यायें होंगी, उन्हें भी तद्नुसार जानता है,—परंतु जानता तो वर्तमान में ही है। जाननेवाला कहीं भूत-भविष्य में रहकर जानने का कार्य नहीं करता, परंतु स्वयं वर्तमान में ही त्रिकाल का ज्ञान कर लेता है। जब भविष्य की पर्याय होगी, तभी उसका ज्ञान होगा—ऐसा नहीं है, परंतु वह पर्याय प्रगट होने से पूर्व ही केवलज्ञान के दिव्य सामर्थ्य में उसका ज्ञान हो गया है। सम्यग्दृष्टि को ऐसे केवलज्ञान की प्रतीति होती है, और उसके अपने आत्मद्रव्य में भी ऐसा परिपूर्ण सामर्थ्य वर्तमान में भरा है, उस सम्पूर्ण द्रव्य को भी सम्यग्दर्शन द्वारा प्रतीति में लिया है। केवलज्ञान समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, तब श्रुतज्ञान उन्हें परोक्ष जानता है। शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि जितना केवलज्ञान का विषय है, उतना ही श्रुतज्ञान का भी विषय है,—मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद है। श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी उसमें विपरीतता नहीं है; वह भी केवलज्ञान की ही जाति का है; और उसमें भी राग टूटकर जितना स्व-संवेदन हुआ है, उतना तो प्रत्यक्षता है। प्रथम अपने परिपूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति और महिमा करके ज्यों-ज्यों उसका स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ज्ञान

का विकास होता जाता है और अंत में पूर्ण केवलज्ञान-सामर्थ्य प्रगट हो जाता है।—ऐसा केवलज्ञान का पंथ है। अपने ज्ञान-स्वभाव के ही अवलम्बन के अतिरिक्त अन्य कोई केवलज्ञान का साधन नहीं है। *[—प्रवचन से]*

★ ★ ★ ★ ★ ★

आराधना

''सत्संग अर्थात् सत्पुरुष की पहिचान होने पर भी वह योग निरंतर न रहता हो तो सत्संग से प्राप्त हुआ ऐसा जो उपदेश उसे प्रत्यक्ष सत्पुरुष तुल्य मानकर उसका विचार तथा आराधन करना चाहिये—कि जिस आराधना से जीव को अपूर्व ऐसा सम्यक्त्व प्राप्त होता है।''

(—श्रीमद् राजचन्द्र, वर्ष-२८वाँ)

★ ★ ★ ★ ★ ★

खास धर्म प्रभावना के समाचार

(१) श्री बाबुभाई चुनीलाल (फतेपुर) गुजरात के दिगम्बर जैन समाज में आपकी विशेष मान्यता है। आप तत्त्वप्रेमी और जैन धर्म के मनोज्ञ वक्ता हैं। आपकी प्रमुखता में धार्मिक पर्व के दिनों में किसी प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्र की यात्रा के लिये बड़ी संख्या में गुजरातियों का यात्रा संघ निकलता है, उसमें हमेशा तीन घंटा प्रवचन तथा तत्त्वचर्चा उपरांत श्री जिनेन्द्र पूजन-भक्ति आदि का कार्यक्रम होता है।

इस साल कार्तिक मास में ६०० यात्री सहित सिद्धवरकूट यात्रा संघ सहित पहुँचे। वहाँ लगभग १५०० भाई-बहिन आये थे। मार्ग में इंदौर, बड़वानीजी, खंडवा, सनावद, ऊन-पावागिरजी, बीकन, उदयपुर, जांबुडी मुकान पर उनका संघ जाने से बहुत उत्तम धर्म प्रभावना हुई।

परम उपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामीजी द्वारा सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग का जो स्वरूप बताने में आता है, उसका सुंदर और स्पष्टरूप में वर्णन करके श्री बाबुभाई धर्म प्रभावना में जो सुंदर भाग ले रहे हैं, उनका उत्साह भरा समाचार हरेक गाँव से बहुत विस्तार से आये हैं। सिद्धवरकूट में सिद्धचक्र मंडल विधान किया गया था, आठ दिन तक श्री बाबुभाई द्वारा दिन में तीन बार तो प्रवचन होता था, तत्त्वचर्चा, अनुपम भक्ति व पूजन का कार्यक्रम भी रखने में आया था, यह सब प्रत्यक्ष देखकर सोनगढ़ के प्रति जिन्होंने झूठी कल्पनायें कर रखी थी, वह दूर हुई।

सिद्धवरकूट में श्री बाबुभाई का प्रवचन तथा तत्त्वचर्चा सुनने के लिये खंडवा आदि निमाड़ प्रदेश के भाई-बहिन बड़ी संख्या में आये थे और वे बहुत प्रभावित हुए। संघपति (यात्रा संघ निकालनेवाले) जांबुडीवाले श्री छबालाल मलूकचंदजी कोटडीया थे, सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र को गुजरात के इस संघ द्वारा लगभग ३३०००) रुपया दान में आये थे, वह सब प्रसंग को देखकर अध्यात्मयोगी पूज्य सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के अनन्य भक्त [अपने को जो समुद्र के एक बिन्दु समान मानते हैं] श्री बाबुभाई के भक्ति भाव की वहाँ की जैनसमाज ने अत्यंत प्रशंसा की। ऐसी धर्म प्रभावना के लिये गुजरात के साधर्मी भाईयों को तथा श्री बाबुभाई को धन्यवाद।

(२) रखीआल (अहमदाबाद) में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा विशाल दिगम्बर जिनमंदिर निर्माण होनेवाला है, उसका शिलान्यास विधि मंगसर सुदी ११, तारीख ७-१२-६२ को श्री पुरणचंदजी गोदीका के शुभहस्त से होगी।

—: संतों की शिक्षा :—

❀ संत कहते हैं कि—हे भाई! पंचम काल में प्रतिकूलता तो होती है, इसलिये तू बड़ी सावधानी से क्षमाभाव की रक्षा करना.... और आत्महित की साधना कैसे हो, यह एक ही लक्ष रखना।

❀ किसी को पूर्व पुण्य के कारण जगत में लाखों-करोड़ों मनुष्यों की ओर से मान-आदर प्राप्त होता है; किंतु वह आत्मा की आराधना में किंचित् सहायक नहीं होता।

❀ और किसी दूसरे को पूर्वपुण्य अल्प होने से जगत में अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ होती हैं, किंतु उनसे आत्मा की आराधना में विघ्न नहीं आता क्योंकि:—

❀ आत्मा की आराधना बाह्य संयोगाधीन नहीं है; आत्मा की आराधना तो अपने स्वभावाधीन ही है। जहाँ स्वभावोन्मुख हुआ वहाँ संयोग तो बाहर ही रह जाते हैं।

❀ धर्मात्मा को अंतर में अपना पूर्ण स्वभाव अनुकूल है, वहाँ कोई बाह्य प्रतिकूलता उसे बाधक नहीं होती।

❀ अरे, इस काल में आराधक जीव कम हैं और विपरीत पुष्टि करनेवाले अधिक हैं। वहाँ जगत को सत्यमार्ग ढूँढ़ना कठिन हो गया है। वेदांतादि अन्य मतों में अध्यात्म के शब्द देखता है तो वहाँ ऐसा अनुभव करता है मानों इनमें भी कुछ है!—अरे भाई, जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ परमात्मा का जैनमार्ग प्राप्त करके तू अन्यत्र कहाँ अटक रहा है? 'नियमसार' में तो कहा है कि—हे भगवान! तेरे होते हुए मैं दूसरे को कैसे नमन करूँ? जो जीव पारखी होकर पात्रतापूर्वक सत् समझना चाहे, उसे इस काल में भी सत् अनुभवगम्य हो सकता है। संत-गुरुओं के प्रताप से इस काल भी सत्य प्रगट हुआ है। अहो! संतों ने मार्ग सुगम कर दिया है।

❀ हमारे लिये कितने महाभाग्य की बात है कि ऐसा दु:षम पंचम काल होने पर भी, जिनकी छाया में रहकर आत्महित की साधना हो सकती है ऐसे साक्षात् संतों का सुयोग प्राप्त हुआ है..... तो अब वह सुयोग कैसे सफल हो उसके लिये हे जीव! तू दिन-रात सावधान रह... ऐसा महान सुयोग प्राप्त हुआ है तो एक क्षण भी प्रमाद करना उचित नहीं है।

❀ जैसे किसी महान दरिद्री को चिंतामणिरत्न की प्राप्ति हो, तथापि वह न पहिचाने, तथा जैसे किसी कोढ़ी को अमृतपान कराने पर भी वह न करे; उसीप्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त मिलने पर भी वह अंगीकार न करे तो उसके अभाग्य की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है?

— मुमुक्षु आत्मार्थी को ऐसा लगता है कि—अहो! हमें सद्गुरुगम से मोक्षमार्ग का उपदेश प्राप्त हुआ..... परम भाग्य से आत्मकल्याण का महान उपदेश मिला... चिंतामणि की प्राप्ति हुई... अमृत मिला... ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक वह अपने हितोपदेश का श्रवण-मनन करके उसे अंगीकार करता है।

(स्त्रग्धरावृत्तम्)

क्षेमंसर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्;
दुर्भिक्षं चौर मारी क्षणमपि जगतां मास्मभूत् जीव लोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व सौख्य प्रदायि।

★

[इन्द्रवज्रा]

संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र सामान्य तपोधनानाम्,
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्रः

भारत की सीमा के ऊपर चीनाओं का आक्रमण और उनके द्वारा हुई अशांति सत्वर दूर होवे और समग्र देश में सुख-शांति प्राप्त हो, हम ऐसी भावना भाते हैं।

★

[राग-जिलौ]

(कवि छत्रपति)

जे शठ निज पद योग्य क्रिया तजि, अन्य विशेष क्रिया सनमानै।
तू तरुमूल छेद लघु दीरध, साख रखा मन की विधि ठाने।।जे०१॥
जो क्रम भंग भखत भेषज को, वधै व्याधि यह ज्ञान न आनै।
तो जिन १आयस वाहिज साधन, तीव्र कषाय काज नहिं जानै।।जे०२॥
निज १आयस सरधान एक ही, कियो सुदिढ दायक सुर थानै।
तौ वर क्रिया साथ साधन को, क्यों न लहैं जिन सम प्रभुताने।।जे०३॥
जातें श्रुत सरधान सर्वथा करौ, क्रिया वृष थल पहिचाने।
'छत्त' जीव का लोकवड़ाई, मांहि, कहा हित लखौ सयाने।।जे०४॥

---

१. तलवार; तलवार के पानी के समान।

(नया प्रकाशन)

अपूर्व अवसर

श्री राजचन्द्रजी कृत एक महान अमर काव्य। इस पर पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन गुजराती भाषा में तीन बार छप चुके हैं। धर्म जिज्ञासुओं की उस रचना को पढ़ने की भारी माँग होने से उसका हिन्दी अनुवाद भी छपकर तैयार हो गया है। साथ में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा तथा लघु सामायिक पाठ भी है। पृष्ठ संख्या १५० सजिल्द, मूल्य लागत से भी कम, ८५ नये पैसे मात्र। पोस्टेज अलग।

जिसको शास्त्र ज्ञान में ज्यादा अच्छा अभ्यास नहीं है, उसको भी सरलता से अच्छा ज्ञान मिलेगा। २१००, बुक छपी थी। ११००, के प्रथम से ही ग्राहक थे। इच्छुक हों, वे शीघ्र मंगवा लेवें।

समयसारजी शास्त्र

परमागम श्री समयसारजी शास्त्र जो अत्यंत अप्रतिबुद्ध, अज्ञानियों के लिये भी समझनेवाला शास्त्र है जिसमें चारों अनुयोगों की बात आ जाती है। यह ग्रंथ दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल ठि० १७३-७५, मुंबादेवी रोड, बम्बई के द्वारा १५०० छपवाया गया था, उसमें से १४०० पुस्तक एक ही मास में बिक गयी हैं। अब १०० प्रति श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ ने मँगा ली हैं। अब दो पुस्तक से ज्यादा पुस्तक नहीं भेज सकेंगे। बम्बई मुमुक्षु मंडल दूसरी बार छपवाने की तैयारी कर रहा है, समयसारजी शास्त्र का प्रचार कितना बढ़ रहा है और इस युग में धर्म जिज्ञासु वर्ग उसका स्वाध्याय करने की कितनी रुचि रखते हैं यह देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

—सम्पादक

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	दसलक्षण व्रत विधानपूजा	०-७५
नियमसार	५ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
समयसार, पृष्ठ ६१६ बड़ा साइज	५)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।।)	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	छहढाला (नई टीका)	८७ नये पैसे
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह सजिल्द	१ ।=)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥)	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानु.	८५ नये पैसे
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समयसार प्रवचन भाग ४	४ ॥)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
प्रवचनसार	५)	स्तोत्रत्रयी	॥)
अष्टपाहुड़	३)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	२)	आत्मधर्म फाइल वर्ष १-३-५-६-	
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	७-८-१०-११-१२-१३ वर्ष	३ ।।।)
द्वितीय भाग ॥-) तृतीय भाग	॥-)	शासन प्रभाव	=)
जैन बालपोथी	।)		
छहढाला मूल	१५ नये पैसे		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।